गणित का अध्यापक

जयशंकर

गणित का अध्यापक

यह मैं बाद के बरसों में जानूँना कि उनसे मेरा मिलना माँ के लिए तकलीफदेह हुआ करता था, जिस दिन मैं यह जानूँगा उस दिन पिता जीवित नहीं होंगे और अलका आंटी किसी दूसरे शहर के अस्पताल में अपनी लाइलाज बीमारी को सह रही होंगी।

कितनी ज्यादा जरूरी बात को हम तब समझ पाते हैं जब उसको समझने का कोई अर्थ नहीं रह जाता है। जब उस बात को समझने से सिर्फ पीड़ा हाथ में आती है और एक किस्म का पश्चात्ताप। यह बात भी है कि मैं अपनी बिटिया से सब कुछ कहने की कोशिशें करता हूँ उससे सबकुछ सुन पाने की इच्छा रखता हूँ मुझे लगता रहता है कहीं

उसके साथ भी यह न हो कि वह अपने माता-पिता के ऐसे दुख-सुख को भी न जाने जो उनके जीने के जरूरी हिस्से रहे थे। मैं कोशिश करता रहता हूँ। कभी अपनी कोशिशों में थोड़ा सा सफल हो जाता हूँ और कभी बुरी तरह नाकाम, इसका ख्याल रखता हूँ कि मुझे बहुत ज्यादा निराश नहीं होना चाहिए। मैं इतनी-सी बात से थक जाऊँगा तो मैं संतों की निराशाओं को कैसे समझ पाऊँगा? मुझे इस बात का क्या थोड़ा-सा भी अनुमान लग पाएगा कि जीसस की निराशा कैसी रही होगी, कैसे रहे होंगे रामकृष्ण परमहंस के अवसाद के क्षण?

मैं इधर अपनी बिटिया के संग सुबह की सैर पर जाने लगा हूँ। वह मैदान में दौड़ती रहती है और मैं गोल्फ ग्राउंड की बेंच पर बैठा हुआ अखबार पढ़ता रहता हूँ। वह अपना दौड़ना खत्म कर मेरे करीब आकर हाँफती रहती है, पसीना पोंछती है और तब उसकी देह मुझे बताती है कि अब वह पूरी तरह एक युवा लड़की में बदल गई है। कुछ बरसों के बाद वह मेरे पास नहीं रहेगी। उसके लिए कोई अच्छा-सा लड़का यहाँ नहीं मिल पाया तो उसे दूसरे शहर में जाना होगा, दूसरे शहर में बसना होगा।

'यह आपको क्या हो जाता है पापा?'

'मैं तुम्हारे विवाह के बारे में सोच रहा था।'

'मम्मी ठीक ही कहती है।'

'क्या कहती है।'

'आपकी तरह के पागल के साथ जीवन बिताना कितना मुश्किल था।'

'यह तो मैं भी तुम्हारी मम्मी के लिए कह सकता हूँ'

अक्सर यह हो जाता है कि हम दोनों गोल्फ ग्राउंड से कॉफी हाउस तक आते-आते मेरे दांपत्य जीवन की तकलीफों के आसपास चक्कर लगाते रहते हैं। मुझे लगातार लगता रहता है कि वह मेरी तकलीफों को समझ नहीं रही है, कुछ ज्यादा ही कम आँक रही है, अपनी माँ को कुछ ज्यादा ही मासूम समझ रही है। मैं अपने पक्ष में तर्क पर तर्क खड़ा करता जाता हूँ। मैं कुछ किताबों और लेखकों का जिक्र करता हूँ लेकिन अंततः मैं अपने आपको उससे कहीं ज्यादा अकेला पाता हूँ जितना अपनी बिटिया से बहस की शुरुआत के पहले था। मैं निराश होने लगता हूँ। मुझे याद आता है कि इस संसार में आदमी को बदलने के अपने प्रयत्नों में संतों ने न जाने क्या-क्या और कितना कुछ सहा होगा?

स्कूल में जब कभी फुरसत मिल जाती है, मैं पास के रेस्तराँ में कॉफी पीने चला जाता हूँ। वहाँ बैठे-बैठे मेरी अपनी कमजोरियों पर ध्यान जाता है। मुझमें बहुत ज्यादा अधीरता है। मैं हर बात में हड़बड़ी से काम लेना चाहता हूँ। मैं खुद को दूसरों पर बुरी तरह थोपना चाहता हूँ। मुझे लगता रहता है कि जीना सिर्फ मुझे ही आता है और बाकी लोगों के जीने में बहुत कमियाँ हैं, बड़ों की बात दूसरी है लेकिन मैं बच्चों से भी यही उम्मीदें रखता रहता हूँ कि वे मेरी तरह सोचने लगें, मेरी तरह जीने लगें। यही एक बात है जिससे मेरी पत्नी मुझसे चिढ़ती आई है और मेरी बिटिया मुझसे चिढ़ने लगी है।

मैं अपनी आशाओं-निराशाओं के साथ स्कूल में लौटता हूँ। क्लासरूम में जाने के पहले गलियारों में इस बात का प्रण करता हूँ कि अपनी क्लास में बच्चों के साथ ज्यादा से ज्यादा लचीला हो जाऊँगा। जितना उनसे सुनूँगा, उसका दस प्रतिशत भी नहीं कहूँगा। एक-एक की रुचियों को जानूँगा। एकाध पीरियड बिना कोर्स की बातों के भी चल सकता है। अभी इम्तहान दूर है। छात्रों को यह अच्छा भी लगेगा कि गणित का उनका नीरस-सा अध्यापक दिलचस्प भी हो सकता है। मैं अपनी धीमी गति से क्लासरूम की तरफ बढ़ता चला जाता हूँ। दीवारों पर खड़ी ईसाई संतों की तस्वीरें मुझे देखती रहती हैं। मैं संतों की निराशाओं की जगह, उनकी आशाओं के बारे में सोचने लगता हूँ।

मेरे क्लासरूम में जाते ही छात्रों की आवाजें गुम होने लगती हैं। धीरे-धीरे पूरे कमरे में खामोशी सुनाई देने लगती है। मैं कुछ छात्रों के चेहरों को ध्यान से देखता हूँ। उनकी पढ़ाई के बारे में पूछता हूँ। कुछ सवाल उनके परिवारों और उनकी रुचियों के विषय में पूछता हूँ। वे खुलने लगते हैं। इस तरह मैं कुछ और छात्रों तक पहुँचता हूँ। उनकी बातों को सुनता हूँ। उन्हें अपनी कुछ सुनाता हूँ। क्लास में एक तरह का संवाद जन्म लेने लगता है। तब मैं गणित की किताब खोलता हूँ। एक तरह के तनावहीन वातावरण में हम गणित के सवालों को समझना शुरू करते हैं। यह सब कितने पहले से करना चाहिए था। मैं कितने मृत वातावरण में पढ़ाता रहा था। गणित जिस दुनिया में जन्मा था, उस दुनिया और उसमें रह रहे लोगों को भूल ही जाता था। मुझे रसेल्न का ख्याल आता है जिन्होंने गणित के होने से ही अपनी आत्महत्या की आकांक्षा पर काबू पाया था।

अपने वातावरण में सहजता से रहने, अपने वातावरण को सहज बनाने का प्रयत्न करने पर आज सुबह मेरी बिटिया ने कुछ बताया था। वह धीरता की जरूरत पर किसी दार्शनिक के विचार बता रही थी। उस दार्शनिक की बातों से मेरी बिटिया को मेरी अधीरता का ख्याल आता रहा था और सुबह की सैर के वक्त उसने मुझे यह सब

बताया था। अपनी पच्चीस बरस की बिटिया से अपने जीने के ढंग की सीमाओं को सुनना उनसे अच्छा भी लग रहा था कि ये बातें नहीं उसकी माँ की हैं। मेरी पत्नी अपनी हर बात को सही साबित करने के लिए लेखकों, दार्शनिकों और संतों की बात का सहारा लेने की इतनी ज्यादा आदी हो चुकी है कि कभी-कभी महसूस होता है कि उसका अपना सोचना-समझना बंद हो गया है। उसकी मुझसे यह शिकायत बनी रहती है कि मैं अध्यापक हूँ। लेकिन कभी-कभार भी कुछ भी नहीं पढ़ता। मेरी अखबार तक पढ़ने में रुचि नहीं है। मैं अपने आसपास को, अपने अतीत को जानना ही नहीं चाहता। मुझमें एक किस्म की नीरसता गहराई तक प्रवेश कर चुकी है कि मुझमें दिलचस्पी का न होना, मुझे परेशान नहीं करता।

यह सब वह मुझे बार-बार कहती रही है। पहले वह कहा करती थी और अब मेरी बिटिया कहने लगी है। जब बिटिया कहती है तो मैं गंभीरता के साथ सुनता भी हूँ। उसके कहने के ढंग में मेरे लिए चिंता रहती है, हिकारत नहीं। मेरी पत्नी कहती रहती है लेकिन कभी भी शांति के क्षणों में नहीं। वह हमारी लड़ाइयों का वक्त होता है और तब कुछ भी सुनना कुछ ज्यादा ही तकलीफ दे जाता है। फिर वह मुझसे होते हुए मेरी माँ तक पहुँचती है। वह इतना भी नहीं सोचती कि जो आदमी नहीं रहा है, उसके बारे में बोलते रहना, उसकी शिकायत करते रहना कोई अर्थ नहीं रखता है। मैं अपनी मृतक माँ को बचाने की कोशिशें करने लगता हूँ और इससे हमारा विवाद बढ़ता जाता है। फैलता जाता है। तब कुछ सुनने का नहीं, कुछ सुनाने का मन हो जाता है और मैं अपने बारे में वह सब भी नहीं सुनता हूँ जो मुझे भी सच नजर आता है। मेरी बिटिया का रास्ता अलग है। उसका किसी समस्या और सवाल तक जाने का एप्रोच भी काफी अलग होता है। अंततः हमारी एप्रोच ही निर्णायक साबित होती है।

आखिर कितना कुछ इस संसार में बदला ही है। पर जिनके प्रयत्नों से कुछ भी बदल सका है, वे लोग ही कुछ और थे। उनका अपना रास्ता ही कुछ और था। हमारी तरह के साधारण लोग, चाहते हुए भी उन लोगों के रास्तों पर एक कदम भी बढ़ा नहीं पाते हैं जिनके लिए हमारे मन में इतना आदर बना हुआ होता है। मामूली आदमी बरसों पहले भी वैसा ही रहा होगा जैसा वह आज नजर आता है। अपनी अनेक कमियाँ लिए हुए। अपनी ढेर सारी कमजोरियों के साथ। मुझे अपना मामूलीपन अपना मनुष्य होना याद आता है और मेरा ध्यान संतों की निराशाओं के क्षणों पर लौटता है।

'आदमी होना ही कठिन है।'

मैं उस फकीर के चेहरे को याद करने की कोशिश करता हूँ जिसने बहुत साल पहले अपनी किसी बात का अंत इस वाक्य से किया था। यह बरसों पहले की बात है। तब बाबू जीवित थे। मैं एक ग्रामीण कोठरी में उनके साथ इस फकीर के पास गया था। अपने आखिरी बरसों में बाबू संतों-संन्यासियों के पास जाने लगे थे। तभी मैं उनके साथ बनारस गया था पर बनारस की जो चीज अब भी मुझे याद है वह किसी गुंबद पर बैठे हुए कबूतर हैं जो न जाने किसकी तरफ देख रहे हैं, किसका रास्ता देख रहे हैं?

मैं पचास का होने को आ रहा हूँ और मैं यह जानना चाहता हूँ कि मैं किस चीज का रास्ता देख रहा हूँ। मेरे जीवन में कुछ घटता क्यों नहीं है, क्यों मैं बुरी तरह रोजमर्रा की जिंदगी की जकड़ में कैद हो गया हूँ? एक तरह की एकरसता। एक ही तरह की सक्रियता या उसके लिए ज्यादा सही शब्द निष्क्रियता होगा।

शुरुआत के दिनों में बिटिया के साथ सुबह की सैर पर जाना अच्छा लगता रहा था। मैंने पहली बार अपनी बेटी को इतनी देर-देर तक सुनना चाहा था, कहना चाहा था। मुझे लगा था कि मैं उससे वह सब कहूँगा जो मैं अपनी पत्नी से कहना चाहता रहा था लेकिन कभी कह नहीं सका था। मैंने बहुत कुछ कहा भी। मैं कोशिशें करता रहा। अपनी बिटिया को सुनता रहा। समझता रहा। दस-बारह दिनों के बीतते-बीतते मैंने महसूस किया कि मेरी बिटिया भी वही सब कुछ सुनती रही है जिसे वह सुनना चाहती है। उसने वह सब सुना ही नहीं है जो मेरे लिए बहुत जरूरी था।

हमारा सैर पर जाना होता रहा। हम गोल्फ-मैदान तक जाते और लौटते रहे। हमने कॉफी हाउस में फ्रेंच टोस्ट और कॉफी लेना जारी रखा। मैं वहीं टाइम्स ऑफ इंडिया के पन्नों पर सरसरी निगाहें डालता रहा। कॉफी हाउस के सामने खड़े पेड़ पर बदलते मौसम को देखता रहा। हम दोनों ही संवादों-खामोशियों को बाँटते रहे। वह अपनी माँ के करीब जाती रही और इससे मैं उसकी माँ से ही नहीं, उससे भी दूर जाता रहा। कितना मुश्किल है स्त्री के मन को समझना-समझाना। क्या यह पुरुष को मिला हुआ अभिशाप है कि स्त्रियाँ उसे कभी भी नहीं समझेंगी?

मुझे याद आता है कि हमारे विवाह से पहले मैं और मेरी पत्नी अक्सर शाम की सैर किया करते थे। एक-दूसरे को जानने की कोशिशें किया करते थे। एक-दूसरे के अतीत को बाँटा करते थे। यह तब की बात है जब जहाँ अब पुल खड़ा हुआ है वहाँ जंगली झाड़ियों की कतारें खड़ी रहती थीं। अँधेरी और लंबी गली का विस्तार हुआ करता था। उन दिनों में हम साथ-साथ लायब्रेरी जाया करते थे, कन्सर्ट सुना करते थे और हमेशा यह सब साथ-साथ करने के स्वप्न देखा करते थे। मुंबइया सिनेमा हम दोनों को ही

उबाता था और हम कभी-कभार ही कोई पुरानी, काली-सफेद फिल्म देखा करते थे। तब मैंने स्कूल में पढ़ाना शुरू ही किया था और मेरे स्कूल और बस्ती के लोग हमारे जीने के ढंग से थोड़ी सी ईर्ष्या भी करते थे।

हमारे विवाह के बाद के तीन बरसों तक तो हमारे संबंधों में एक तरह का उत्साह, समझौता और अनुराग बना रहा लेकिन बाद में कुछ बातें हुईं और हमारे बीच का तनाव बढ़ने लगा, दूरियाँ बढ़ने लगीं और लगाव कम होता गया। मेरी छोटी बहन की शादी हुई और वह विषाखापट्टनम चली गई। मेरी माँ मेरे पास रहने के लिए चली आई। माँ को मेरा बंगाली लड़की से विवाह करना पहले से ही न जाने क्यों ठीक-ठीक नहीं लगता रहा था और मेरे साथ आकर रहने के बाद, उनका पूर्वग्रह मजबूत होता गया। उनके बीच का टकराव बढ़ता गया और मैं एक किस्म की उदासीनता बरतता रहा। मुझे लगता रहा था कि एक दिन आएगा जब सब अपने आप ठीक हो जाएगा।

क्या कभी ऐसा होता है? क्या आदमी के रिश्तों में बिना पहल के कोई बदलाव संभव हो सकता है? वे दोनों एक-दूसरे से ही नहीं, मुझसे भी दूर होते गए। जब घर का वातावरण बहुत ज्यादा ही असहनीय और अराजक हो गया तब मैंने माँ से बहन के पास चले जाने का आग्रह किया। तब तक वे खुद भी ऐसा ही सोचने लगी थी। हमारी बच्ची के जन्म के बाद, मेरी पत्नी की तबियत खराब रहने लगी थी। बहुत बार ऐसा होता था कि मैं बाहर से लौटता था और वे दोनों झगड़ते रहते और बिटिया रोती हुई बिस्तर पर पड़ी रहती। मेरी पत्नी इकलौती लड़की थी और उसे घर के कामकाज का, बच्चों को पालने का जरा-सा भी अनुभव नहीं था और यही बात माँ के लिए बहस का मुद्दा हुआ करती थी।

तभी हमारे जीवन में एक और मुसीबत आई। हमारी बिटिया को मिरगी के दौरे आने लगे। उसके लंबे इलाज की शुरुआत हुई और मेरी पत्नी एक अंग्रेजी अखबार के लिए पार्ट टाइम काम करने लगी। माँ चली गई थी और हमारे घर पर छत्तीसगढ़ से आई हुई एक आदिवासी लड़की काम करने लगी थी। उसका नाम आगस्टीना था और वह बहुत अच्छी तरह से घर की देखभाल करने लगी थी। हम उस पंद्रह-सोलह बरस की लड़की पर भरोसा कर सकते थे और शाम के समय भी एकाध घंटा बाहर रह सकते थे। मेरी पत्नी ने जर्नलिज्म पढ़ने के लिए शाम के कॉलेज में दाखिला ले लिया। मैं गणित और फिजिक्स के ट्यूशन लेने लगा। माँ के चले जाने, इस तरह चले जाने और एक पराये शहर में अपनी बेटी के पास रहने का दुख मुझे सालता रहा था। माँ के चले जाने की छाया हमारे रिश्तों पर मँडराती रहती थी। हमारा एक-दूसरे से बोलना काफी कम हो

गया था और हम दोनों ही एक दूसरे के करीब होने पर एक तरह की असहजता महसूस किया करते थे।

तभी मैंने यह भी जाना कि मेरी पत्नी की एक बंगाली पत्रकार से पहचान हो गई है और दोनों अपना थोड़ा-सा समय साथ-साथ गुजारने लगे हैं। यह बात मुझे पत्नी ने ही बताई थी। वह कभी-कभी अपनी स्कूटर से पत्नी को घर पर छोड़ने लगा था। हमारे घर पर ही उससे मेरी एक-दो मुलाकातें हुई और उससे मिलना मुझे बहुत ज्यादा अखरा भी नहीं। वह पच्चीस-छब्बीस बरस का एक शर्मीला लड़का था और कलकत्ता से अखबार की नौकरी के लिए हमारे शहर में आया था। मेरी पत्नी को दीदी और मुझे दादा कहा करता था। मेरी बिटिया तीन बरस की हो रही थी और वह अपना थोड़ा सा वक्त हमारी बिटिया के पास भी गुजारता था। आगस्टीन से उसकी टूटी-फूटी हिंदी में बातचीत चलती रहती और उसक आने वे वह भी खुश रहा करती थी।

वे हमारे शहर में गर्मियों के आने के दिन थे और रास्ते से गुजरते हुए पेड़ों की सरसराहटें उनसे झरती पत्तियाँ, उनको घेरती खामोशियाँ हमारा ध्यान खींच लिया करती थीं। उन दिनों में, गर्मियों के आने की आहटें मुझे मरे बचपन की याद दिलाया करती थीं। और बचपन की मेरी यादों में माँ की बहुत ज्यादा जगहें हुआ करती थीं। माँ विषाखापट्टनम चली गई थी। पत्नी बहुत ज्यादा व्यस्त रहने लगने लगी थी और बिटिया बीमार रह रही थी। बड़ी हो रही थी। विवाह के पहले के हमारे दिन हमसे छूटते चले जा रहे थे। पुराने दिनों की निरंतरता टूटने लगी थी और अब पुराने दिन सिर्फ स्मृति की चीज होने लगे थे। एक दिन मैंने पत्नी से पूछा था -

'तुम्हें नहीं लगता कि हमारे बीच का कुछ है जिसे हमने खो दिया है।'

'लगता है... पर यह सब होता ही है।' पत्नी ने कहा था।

'लेकिन क्या ऐसा होना चाहिए...'

उसे सुबह जल्दी उठना था और वह सोने लगी थी। उस रात मैं देर तक जागता रहा था। रिश्तों के बीच खाइयाँ धीरे-धीरे गहरी होने लगती हैं। एक हद तक तो शब्द साथ दे पाते हैं पर संबंधों में एक वह दौर भी आता हे जब शब्दों से ज्यादा निरर्थक कुछ भी नहीं जान पड़ता। वह हमारे रिश्तों के रिसते चले जाने की शुरुआत थी। वह मेरे खाली होते चले जाने का आरंभ था।

ऐसे चुप्पियों और पीड़ा के दिनों में ही मैंने एक दिन महसूस किया कि मेरी पत्नी का उस बंगाली पत्रकार से कुछ ज्यादा ही लगाव हो गया। अब उसका घर पर आना, उसके साथ मेरी पत्नी का बाहर जाना कुछ ज्यादा ही होने लगा था। मैं एक किस्म की शर्म और पराजय के बोध के साथ रहने लगा था। मेरा मन करता था कि मैं पत्नी से उस बंगाली पत्रकार को लेकर बात करूँ पर मैं मन ही मन डरता भी रहता था। मैं जानता था कि अगर मैं पूछूँगा तो मेरी पत्नी झूठ नहीं बोलेगी। उसके इस तरह के साहस को मैं देखता आया था। मुझे उसका इस तरह का होना, अच्छा भी लगता रहा था।

और मेरे डर, मेरी पराजय और मेरी शंकाओं के साथ, मेरे वे बाँझ दिन बीतते चले जा रहे थे। समय बीत रहा था। मैं बीत रहा था। मैं खाली होता जा रहा था। मेरे मरने की शुरुआत हो चली थी। ऐसे दिनों के साथ मैं तीन महीने भी नहीं रहा हूँगा कि वह बंगाली पत्रकार कलकत्ता लौट गया। उस साल की गर्मियों में उसकी कलकत्ता में शादी हुई और हमने उसके लिए पार्सल से कुछ किताबें भिजवाईं। पत्नी का जर्नलिज्म की क्लासेस में जाना शुरू रहा लेकिन अब उसमें उन दिनों का उत्साह नहीं बचा था जो उस बंगाली पत्रकार के होने से रहा करता था। मैं कभी-कभी उसे लेने के लिए स्कूटर से जाता और उसे गेट के पास एक कोने में चुपचाप खड़ी पाता। वह ज्यादा से ज्यादा बिटिया के बारे में पूछती या मौसम के बदलने का जिक्र करती। हम दोनों के बीच एक तरह की असहजता और अजनबीपन खड़ा रहता।

धीरे-धीरे हमारे जीवन में इस तरह का अजनबीपन कुछ इस तरह रहने लगा था जैसे वह हमारा कोई सगा हो, हमारा कोई पूर्वज जो कहीं से लौट आया था। आज इतने सालों के बाद उन बरसों के बारे में सोचता हूँ तो वे जरा से भी कठिन वर्ष नहीं जान पड़ते हैं। उसके बाद न जाने क्या-क्या नहीं हुआ है। कितना कुछ घटा है हमारी जिंदगी में। कितना कुछ सहा और खोया है हमने। मेरी माँ नहीं रही। मेरी बहन को अपना घर छोड़कर, अपने पति से अलग बसना पड़ा। मेरी पत्नी के माता-पिता नहीं रहे। हमारी बिटिया बरसों तक बीमार बनी रही।

आदमी कहाँ-कहाँ से गुजर जाता है। आदमी कितना ज्यादा सहनशील और कितना कम भावुक होता चला जाता है। जिंदगी उसे कितना कुछ सिखाती चली जाती हे, लेकिन उसने सीखना न चाहा तो वह सनकी होता चला जाता है। मेरे साथ ऐसा हुआ है। मैं दिनों-दिन सनकी होता गया हूँ। मुझसे बचपन की अधीरता अभी तक नहीं गई है। बरसों से मैं पत्नी से बहस करता आया था और अब मैं अपनी बिटिया से बहस करने लगा हूँ। क्या मैं जीतते रहना चाहता हूँ? क्या मैं अपने आपको बेहतर आदमी साबित करता हुआ चलना चाहता हूँ?

यह अपने आपको सही साबित करने का प्रयास, अपने आपको दूसरों पर थोपने की निरंतर आकांक्षा, अपने आपको बचाने की चेष्टाएँ, अपने ही लोगों के विरोध में खड़ा होने या उन्हें अपने विरोध में खड़े करवाने की नादानी, मेरी इस उम्र में, जब मैं पचास के करीब जा रहा हूँ, क्या कोई अच्छी बात है? मुझे अपने इस फूहड़पन पर सोचना चाहिए और कुछ दिनों तक तो मुझे अपनी ही कमजोरियों और कमियों पर सोचना चाहिए, उन्हें उनको कम करने के, स्वीकार करने के रास्ते खोजना चाहिए।

'बाबा आपको अपने जीने के ढंग पर कभी भी शक नहीं होता है...'

एक रोज सुबह की सैर से लौटते वक्त बिटिया ने कहा था। वह मुझे बताना चाह रही थी कि जिन्हें भी इस संसार में कुछ कर गुजरे लोगों के रूप में जानते हैं, वे सब अपने जीने के ढंग से असंतुष्ट रहते आए थे, वे लोग अपने आप पर ही ज्यादा से ज्यादा संदेह करते रहे थे, उनके पास दूसरों के लिए चिंताएँ तो रहती थीं लेकिन वे अपनी सीमाओं के बारे में ज्यादा सोचा करते थे। वह मुझे किसी ईसाई संत की किताब के बारे में बता रही थी। शायद सिमोन बेल के बारे में।

अब हमारे घर में उसका किताबों ही से रिश्ता रह गया है। मैं कभी-कभार ही कुछ पढ़ता हूँ। पत्नी की दिलचस्पी अखबार तक सीमित हो गई है और टेलीविजन के आने के बाद से, वे अखबार भी कभी-कभार ही पढ़ती है। पत्नी को बिटिया का कोर्स के बाहर का कुछ भी पढ़ना बहुत ज्यादा भाता नहीं है। वह अपनी बातों में अकसर मेरा और मेरी ढेर सारी असफलताओं का जिक्र करती है और उसमें वह बताना नहीं भूलती है कि कभी मैं भी महान लेखकों और दार्शनिकों में डूबा रहता था। और उस डूबे रहने से मुझे वह बनाया है जो मैं आज हूँ। एक सनकी और फूहड़ आदमी - एक नीरस और निष्क्रिय अध्यापक जो सुबह की सैर के वक्त दार्शनिक होने का स्वाँग रचता रहता है।

हमारे जीवन में ही एक वक्त रहा या जब मेरी पत्नी मुझसे पास्कल किर्केगाद रसेल और विटगेन्सटाइन के साथ-साथ गालिब और मीर पर भी बातें किया करती थी और अब हमारी जिंदगी का वह वक्त है जब हम मामूली से मामूली बातों में भी साझा नहीं कर पाते हैं। कभी-कभी मुझे लगता है कि मनुष्य का हर रिश्ता एक न एक दिन बासी हो जाने के अभिशाप को झेलता रहता है। क्या यह आदमी को दिया गया कोई शाप है जिससे हमेशा से मुक्त रहती आई है?

https://www.hindiadda.com/ganit-ka-adhyapak/